४८ कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान

□ श्री अशोककुमार सक्सेना

विज्ञान को जड़ से चेतन करने का श्रेय आचार्य जगदीशचन्द्र बसु को है, जिन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि सारी प्रकृति जीवन से स्पंदित होती है और तथाकथित 'अचेतन' तथा 'चेतन' में सीमारेखा व्यर्थ है। इसी प्रकार आइन्स्टाइन ने यह प्रक्रिया प्रारम्भ की जिसके आधार पर आधुनिक विज्ञान 'वस्तु' और 'विचार' को एक साथ देख सकने में समर्थ हो सका। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् बिन्दुओं की कोई आकृति नहीं होती है परन्तु वे मिलकर कोई चित्र बना सकते हैं, उसी प्रकार पारमाणविक अवयव–प्रोटान, इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, मेजान, क्वार्क—स्वयं 'वस्तु' न होकर केवल 'विचार' हैं, किन्तु वे मिलकर कोई वस्तु अर्थात् परमाणु बना सकते हैं। इसी प्रकार का एक विचार है 'कोटोन' जो प्रकाश का 'निर्माण' करता है—और वैज्ञानिक पोली का विचार है—'न्यूट्रिनो', जो कि ठोस द्रव्य से एकदम अनासक्त भाव से गुजर जाता है। इसके अतिरिक्त आइन्स्टाइन की सभी ब्रह्माण्डिकियाँ एक मान्यता के अधीन परिकल्पित की जाती हैं, जिसे ब्रह्माण्डिकीय सिद्धान्त कहते हैं, जिसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड सर्वत्र औसतन एक जैसा है अर्थात् द्रव्य और गति का वितरण पूरे ब्रह्माण्ड में औसतन वैसा ही है जैसा उसके किसी भाग—उदाहरणार्थ हमारी नीहारिका—आकाशगंगा—मन्दाकिनी में। इस मान्यता के पीछे 'गणितीय सौन्दर्यबोध' के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं है—और इस प्रकार आइन्स्टाइन के सूत्रों के आधार पर विभिन्न ब्रह्माण्डिकियाँ वैसे ही प्रस्तुत की जाने लगीं जैसे कर्म-सिद्धान्त के आधार पर जैन, बौद्ध, सांख्य आदि दर्शन।

प्रकृति की लीला समझने के लिये मानव के पास गणित ही 'एक भरोसा, एक बल' है, परन्तु गणितीय निष्कर्ष निराकार ब्रह्म की तरह होते हैं। उनके साकार रूप की उपासना प्रयोगशाला के मन्दिर में होती है और इन्जीनियरी तथा प्रौद्योगिकी अपना काम निकालने के लिए सिद्धि-प्राप्ति का प्रयास हैं। इसी प्रकार परम तत्त्व को समझने के लिए कर्म-सिद्धान्त एक वास्तविक सच है, जिसमें स्वयं आत्मा निराकार ब्रह्म है और मोक्ष या कैवल्य या सिद्धि-प्राप्ति के साधन हैं—भक्ति, कर्म, ज्ञान व योग।

संसार की सभी घटनाएँ, जीवों की सभी चेष्टाएँ, यहाँ तक कि स्वयं यह

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जगत्, कर्म की ही गति का फल है। देवता लोग भी कर्म के बन्धनों से परे नहीं हैं। अवतार लेने पर भगवान भी कर्म के गतिचक्र में घूमने लगते हैं। कर्म की गति बड़ी विचित्र है। इसके आदि—अन्त को जानना सरल नहीं है। सच ही कहा गया है—'गहना कर्मणो गति'।

विश्व में व्याप्त विषमता का एकमात्र कारण प्राणियों द्वारा किये गये अपने कर्म हैं। 'कर्मजम् लोकवैचित्र्य', अर्थात् विश्व की यह विचित्रता कर्मजन्य है, कर्म के कारण है।

"करम प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तसि फल चाखा" —यही कर्म सिद्धान्त है, जिसे वेदान्त, गीता, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, योग, अद्वैत, काश्मीरीय शैव, वैष्णव, भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत—सभी दर्शन स्वीकार करते हैं।

विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्यों से यह स्पष्ट है कि कर्म क्रिया या वृत्ति या प्रवृत्ति या द्रव्यकर्म है, जिसके मूल में राग और द्वेष रहते हैं—'रागो य दोसो विय कम्मबीय'। हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य संस्कार, धर्म-अधर्म, कर्माशय, अनुशय या भावकर्म छोड़ जाता है। संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इसी का नाम संसार है, जिसके चक्र में पड़े हुए प्राणी कर्म, माया, अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, वासना या मिथ्यात्व से संलिप्त हैं, जिनके कारण वे संसार के वास्तविक स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं, अतः प्राणी के प्रत्येक कार्य राग द्वेष के अभिनिवेश हैं। इसलिए प्राणियों का प्रत्येक कार्य आत्मा पर आवरण का ही कारण होता है। परन्तु सत्व-रजस-तमो-रूपा त्रिगुणात्मिका अविद्या त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् है। जीव और कर्म के सम्बन्ध का प्रवाह अनादि है। कर्म-प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के संसार में न लौटने को सभी प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं।

आत्मा ही कर्म का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता है—"य कर्त्ता कर्म भेदानाम् भोक्ता फलस्य च" यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनों एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं तथापि आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता है, पुद्गल कर्मकृत समस्त भावों का कर्त्ता नहीं है।

गीता में स्पष्ट कहा है—"नादत्ते कस्यचित्त पापं न चैव सुकृतं विभु", अर्थात् परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है और न पुण्य को, यानी प्राणी-मात्र को अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। कर्म अपना फल स्वयं देते हैं। 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' (महाभारत, शान्तिपर्व) अर्थात् प्राणी कर्म से बँधता है और कर्म की परम्परा अनादि है। ऐसी परिस्थिति में 'बुद्धि कर्मानुसारिणी'

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् कर्म के अनुसार प्राणी की बुद्धि होती है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् अच्छे आशय से किया गया कार्य पुण्य और बुरे अभिप्राय से किया गया कार्य पाप का निमित्त होता है। इसलिये साधारण लोग यह समझते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पाप-पुण्य का लेप न लगेगा, इससे वे उस काम को तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती, इससे वे इच्छा रहने पर भी पाप-पुण्य के बन्ध से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग में है। अनासक्त कार्य से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसीलिये "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता), अर्थात् कर्म करना अपना अधिकार है, फल पाना नहीं। परम पुरुषार्थ या मोक्ष पाने के तीन साधन हैं—श्रद्धा या भक्ति या सम्यग् दर्शन, ज्ञान या सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र अर्थात् कर्म और योग। मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय आदि सात्विक कर्म ही कर्म मार्ग है और चित्त-शुद्धि हेतु की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है। कर्ममार्ग और योगमार्ग दोनों ही कर्म-सिद्धान्त के अभिन्न अंग हैं।

चार्ल्स डार्विन का जैव-विकासवाद जिस प्रकार से सरलतम से जटिलतम जीव की उत्पत्ति बतलाता है, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त भी जीव या आत्मा के आध्यात्मिक विकास को कर्म के आधार पर मानता है और कर्मानुसार जीव को विभिन्न योनियों में से होकर जन्म-जन्मांतर गुजरना पड़ता है। जीव मोह के प्रगाढ़तम परदे को हटाता हुआ उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की परिमापक रेखाओं या गुणस्थानों या चित्त-भूमिकाओं की विभिन्न अवस्थाओं में से होकर गुजरता है (पातंजल योग-दर्शन, योगवासिष्ठ, श्री देवेन्द्रसूरिकृत कर्म-विपाक) और जब अज्ञान रूपी हृदय-ग्रंथियाँ विनष्ट हो जाती हैं तभी मोक्ष या कैवल्य प्राप्त होता है (शिव गीता)। यही आत्मा के विकास की पराकाष्ठा है। यही परमात्म-भाव का अभेद है। यही ब्रह्मभाव है। यही जीव का शिव होना है, यही पूर्ण आनन्द है। तपस्या के कारण पुण्य के उदय होने से तत्त्व-की प्राप्ति जीवित अवस्था में यदि किसी जीव को हो जाये, तो उसके ज्ञान के प्रभाव से उसकी वासना नष्ट हो जाती है, क्रियमाण या प्रारब्ध कर्म का नाश हो जाता है एवं संचित कर्म भी शक्तिहीन हो जाते हैं। यही जीवन्-मुक्त की अवस्था है, जिसके पश्चात् चरम पद की प्राप्ति होती है। अतः परम पद के जिज्ञासु को अनासक्त होकर कर्म को करते रहना चाहिये, क्योंकि कर्म और भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और ज्ञान की प्राप्ति से ही परम पद की प्राप्ति होती है। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है। सभी निवर्तकवादियों का सामान्य लक्षण यही है कि किसी प्रकार से कर्मों की जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहां से फिर जन्मचक्र में आना न पड़े, क्योंकि पुनर्जन्म और परलोक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का कारण कर्म है। जीव कर्मों के आवरण को पुरुषार्थ द्वारा हटाता है। सिद्ध जीव की विकसित दशा है।

वैज्ञानिक क्लाइन की ब्रह्माण्डिकी गोचर ब्रह्माण्ड को एक परिमित व्यवस्था—परानीहारिका (मैंटागैलेक्सी) का सदस्य मानती है। इस परानीहारिका में पहले द्रव्य और प्रतिद्रव्य दोनों उपस्थित थे। प्रतिद्रव्य को संक्षेप में यों समझिये कि परमाणु के जो दो सौ से ऊपर ज्ञात अवयव हैं उनमें से कुछ के 'विरोधी' अवयव प्रयोगशाला में पहचान लिए गए हैं, तो यदि समस्त अवयवों के विरोधी अवयव हों और वे आपस में मिल भी सकें तो 'प्रतिपरमाणु' बन सकता है और फिर आगे प्रतिद्रव्य का भी अस्तित्व सम्भव है। यदि प्रतिद्रव्य है तो वह द्रव्य के साथ नहीं रह सकता—परस्पर संयोग होते ही वे एक-दूसरे को समाप्त कर देंगे और इस प्रक्रिया में अकल्पनीय ऊर्जा की सृष्टि होगी—परन्तु प्रतिद्रव्य अकेले बना रह सकता है, जैसे कि द्रव्य अकेले बना रह सकता है। प्रतिद्रव्य की बनी हुई एक दुनिया भी हो सकती है। उस दुनिया में क्या हो सकता है, इस चर्चा के अपने-अलग मजे हैं और 'प्रतिविश्व' पर वैज्ञानिकों का कोई एकाधिकार भी नहीं है। उदाहरण के लिये कृष्ण-लीला की उदात्तता सिद्ध करने के लिए कुछ वैष्णव दार्शनिकों ने 'गोलोक' की कल्पना प्रतिविश्व के रूप में ही की है, जिसका विशेष लाभ यह है कि परकीया प्रेम जो इस लोक में अधम कृत्य है, उस लोक में उत्तम कृत्य हो जाता है। भारतीय दर्शन में सत्यलोक, ब्रह्मलोक, तपलोक, महर्लोक, भुवर्लोक, पितृलोक, देवलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि की कल्पना प्रतिविश्व के रूप में ही है।

इसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्वरूप इस विश्व में एक-एक ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त जीव हैं। ब्रह्माण्ड की अनेकता और अनन्तता अब वैज्ञानिक भी स्वीकृत कर चुके हैं। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डाक्टर हेज हाबेर ने दूसरी दुनिया में जीवन के बारे में एक अनोखा सिद्धान्त पेश किया है, जिसके अनुसार जरूरी नहीं कि जहां भी विकसित सभ्यता अथवा विकासशील जीवन हो, वहां पानी और आक्सीजन हो ही। शुक्रग्रह जैसे गैसीय वातावरण युक्त ग्रहों के आकाश में भी जीवन उसी तरह पनप सकता है, जैसे पृथ्वी के ऊपर महासागरों में पनपा। पृथ्वी के जीवधारियों के शरीर में भले ही कार्बन-यौगिकों का बाहुल्य है, मगर अन्य ग्रहों का जीवन बिलकुल भिन्न तत्त्वों से बना हो सकता है। जिन ग्रहों पर सरसरी तौर से जीवन नहीं दिखाई देता, वहां भी 'भूमिगत' जीवन हो सकता है। हो सकता है आए दिन हम जो उड़न-तश्तरियाँ वगैरह पृथ्वी पर देखते हैं, वे हमारे 'पड़ोस' से आई हों और पृथ्वी से आक्सीजन, जल तथा अन्य आवश्यक पदार्थ एकत्र करके वापिस चली जाती हों। इस सिलसिले में वैज्ञानिक पृथ्वी और शुक्र के बीच, पृथ्वी और

Jain Educationa International　　For Personal and Private Use Only　　www.jainelibrary.org

मंगल के बीच तथा मंगल से कुछ पीछे तक के अन्तरिक्ष में "तैरते अन्तरिक्ष नगरों" की सम्भावना को भी गम्भीरता से ले रहे हैं, अर्थात् ब्रह्माण्डों में अनन्त जीवन है। अनंतानन्त जीवों में एक-एक जीव के अनंतानन्त जन्मों में एक-एक जन्म में अनंतानन्त कर्म हैं।

समस्त विश्व एक ही 'शक्ति' और 'शक्तिमान' का उल्लसित रूप है। सभी चिन्मय हैं। परम शिव सर्वथा स्वतंत्र होकर बिना किसी की सहायता से, केवल अपनी ही 'शक्ति' से, सृष्टि को लीला के लिए उद्भाषित करते हैं और लीला का संवरण भी कर लेते हैं। वस्तुतः यहीं आकर साधक को "एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन" तथा "सर्वं खल्विद ब्रह्म" का वास्तविक अनुभव होता है। 'माया' या 'कर्म' ब्रह्मशक्ति, ब्रह्माश्रित है, पर 'ब्रह्म' सत्य है, परन्तु विचार-दृष्टि से माया या कर्म 'सदसद्विलक्षण' है, किन्तु माया या कर्म को स्वीकार कर उसको ब्रह्ममयी, नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से 'ब्रह्म' और 'माया' या 'कर्म' की एकरसता हो जाती है, यह एकरसता माया या कर्म को त्याग कर या तुच्छ समझकर नहीं बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने में है, क्योंकि मूल प्रकृति 'अव्यक्त' है। कर्म की गति अनादि है, अविद्या अनादि है। अविद्या या कर्म तथा जीव का सम्बन्ध भी अनादि है, परन्तु ये कर्मगति, अविद्या या कर्म सम्बन्ध, अनित्य हैं। इनका नाश यद्यपि परिणाम के द्वारा ही होता है तथापि नाश के लिए भी सृष्टि का होना आवश्यक है। अव्यक्त रूप के रहने से सृष्टि नहीं हो सकती तो फिर सृष्टि होती कैसे है ? वास्तव में 'कार्य' वस्तुतः 'कारण' में वर्तमान है, अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व 'कार्य' कारण में अव्यक्त रूप में रहता है। कार्य की उत्पत्ति और नाश का अर्थ 'उस विषय की सत्ता का होना या न होना' नहीं है। कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है—'अव्यक्त से व्यक्त होना' तथा कार्य के नाश का अर्थ है—'व्यक्त से अव्यक्त होना।' यह भी एक प्रकार का परिणाम है, जिसके कारण अव्यक्त मूला प्रकृति में अव्यक्त रूप में वर्तमान वस्तु व्यक्त हो जाती है, अर्थात् न किसी की 'उत्पत्ति' और न किसी का 'नाश' होता है; केवल स्वरूप में परिवर्तन होता है, वस्तु में नहीं; यानी समस्त विश्वरूप कार्य मूल प्रकृति रूप कारण में अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहता है।

भौतिक विज्ञान के अनुसार जगत् में किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता, रूपान्तर मात्र होता है। विज्ञान शक्ति के संरक्षण-सिद्धान्त में, पदार्थ की अनश्वरता के सिद्धान्त में विश्वास करता है। जब जगत के जड़ पदार्थों की यह स्थिति है, तब इन्हीं के अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण चेतन आत्मतत्त्व की अनश्वरता सैमुतिक न्याय से सुतरां सत्य होनी चाहिये।

श्री अरविन्द द्वारा चेतना के विभिन्न स्तरों की परिकल्पना के साथ-साथ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

'अति-मानव' का सृष्टि-विकास तथा भूतल पर देवत्व के स्वयं आविर्भाव की उच्चतम परिकल्पना भारत के प्राचीन मनीषियों के सिद्धान्त से निराली है। मूलतः यह परिकल्पना डार्विन के विकासवाद की श्रेष्ठतम आध्यात्मिक परिणति है।

विश्व में प्रत्येक कार्य की प्रतिक्रिया होती है, जिससे प्रकृति में कार्य शक्ति का सन्तुलन बना रहता है। उसी प्रकार कर्म एक क्रिया है और फल उसकी प्रतिक्रिया है, अतः जो भले या बुरे कर्म हमने किये हैं, उनका अच्छा या बुरा फल हमें भुगतना पड़ेगा।

स्वामी विवेकानन्द ने कर्म-सिद्धान्त की वैज्ञानिक विवेचना की है। उनका कथन है कि जिस प्रकार प्रत्येक क्रिया जो हम करते हैं, हमारे पास पुनः वापिस आती है प्रतिक्रिया के रूप में; उसी प्रकार हमारे कार्य दूसरे मनुष्यों पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं और अन्य मनुष्य के कार्य हमारे ऊपर प्रतिकिया कर सकते हैं। समस्त मस्तिष्क जो कि समान प्रवृत्ति रखते हैं, वे समान विचार से प्रभावित होते हैं। यद्यपि मस्तिष्क पर विचारों का यह प्रभाव दूरी आदि अन्य कारणों पर निर्भर करता है, तथापि मस्तिष्क सदैव अभिग्रहण के लिए खुला रहता है।

जिस प्रकार दूरस्थ ब्रह्माण्डकीय पिण्डों से आने वाली प्रकाश तरंगें पृथ्वी तक आने में करोड़ों प्रकाश वर्ष ले लेती हैं, उसी प्रकार विचार-तरंगे भी कई सौ वर्षों तक संचरित होती हुई स्पन्दन करती रहती हैं जब तक कि वे किसी अभिग्राही तक न पहुँच जायें। इसलिये, बहुत कुछ सम्भव है कि हमारा वातावरण इस प्रकार के अच्छे तथा बुरे विचार-स्पन्दनों के कम्पनों से ओतप्रोत हो। जब तक कि कोई मस्तिष्क-अभिग्राही ग्रहण नहीं कर लेता है तब तक प्रत्येक मस्तिष्क से निकला हुआ विचार स्पन्दन करता रहता है और मस्तिष्क जो कि इनको ग्रहण करने के लिए खुला हुआ है, तत्काल इन विचार-स्पन्दनों में से कुछ को अभिगृहीत कर लेता है, अतः एक मनुष्य जब कोई बुरा कार्य करता है, तो उसका मस्तिष्क वातावरण में व्याप्त बुरी विचारधाराओं के स्पन्दनों को लगातार ग्रहण करता रहता है। यही कारण है कि बुरा कार्य करने वाला सतत बुरे कार्य ही करते रहने में तत्पर रहता है। यही बात अच्छे कार्य करने वाले पर भी लागू होती है।

हमारे सभी कार्य—अच्छे या बुरे—दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुये हैं। उनके बीच हम कोई सीमा-रेखा नहीं खींच सकते। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो एक ही समय में अच्छा तथा बुरा फल न रखता हो।

जो अच्छा कार्य करने वाला यह जानता है कि अच्छे कर्म में भी कुछ-न-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ बुराई है और बुराइयों के मध्य जो देखता है कि कहीं-न-कहीं पर कुछ अच्छाई भी है, वही कर्म के रहस्य को जानता है। इसलिये हम कितनी भी कोशिश क्यों न करलें, कोई भी कार्य पूर्णतया शुद्ध या अशुद्ध नहीं हो सकता।

दूसरों के प्रति लगातार अच्छे कार्य करने के जरिये हम अपने को भूलने का प्रयास करते हैं। यह अपने को भूलना ही वह बहुत बड़ा सबक है जो हमें अपनी जिन्दगी में सीखना चाहिये। अपने को भूलने की यह अवस्था ही ज्ञान, भक्ति और कर्म का अपूर्व संयोग है, जहां पर "मैं" नहीं रहता।

इस जन्म में देखी जाने वाली सब विलक्षणतायें न वर्तमान जन्म की कृति ही का परिणाम है, न माता-पिता के केवल संस्कार का ही, और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व को गर्भ के आरम्भ समय से और भी पूर्व मानना पड़ता है, जिससे अनेक पूर्व जन्म की परम्परा सिद्ध होती है, क्योंकि अपरिमित ज्ञान-शक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकती। इस प्रकार आत्मा अनादि है और इस अनादि तत्त्व का कभी नाश नहीं होता। गीता में सच ही कहा है—

न जायते म्रियते व कदाचिन्नाय भूत्वा, भविता न भूयः।
अजो नित्यं शाश्वतोयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

और "नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः"—इस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक व अब आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं।

पुनर्जन्म का मूल कारण विभिन्न प्रकार के शुभाशुभ कर्म ही हो सकते हैं, जिनके फलस्वरूप प्राणिमात्र को तारतम्य या वैषम्य से जन्म से मृत्युपर्यन्त सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। पूर्वजन्म के संस्कार मन में रहते हैं। उन संस्कारों को उद्भासित करने वाला देश, काल, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी पदार्थ जैसे ही सामने आता है, संस्कार उद्भासित हो जाते हैं और प्राणी को पूर्व जन्म के अभ्यास से उस कार्य में प्रवृत्त कर देते हैं।

प्राध्यापक हक्सले का कथन है कि विकासवाद के सिद्धान्त की तरह देहान्तरवाद सिद्धान्त भी वास्तविक है। कुलक्रमागत संक्रमण के प्रवक्ता मानवीय आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। उनके मतानुसार अपने वंशजों में कोषाणुगत संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य अमर बन सकता है। यदि यह सही है तो आइन्स्टाइन या गाँधी के वंशजों को हम आइन्स्टाइन या गाँधी के समान ही क्यों नहीं देखते? इसलिए पूर्णता प्राप्त करने के संदर्भ में विकासवाद का सिद्धान्त पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त की प्रक्रिया द्वारा संतोषजनक और अपेक्षाकृत उत्तम तरीके से समझा जा सकता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण के साथ कर्म-सूत्र अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत" (गीता) अर्थात् कोई भी क्षणभर के लिए भी बिना कुछ कर्म किये नहीं रहता, "एगे आया" आत्मा अपने मूल-स्वभाव की दृष्टि से एक है। यह निश्चित-निश्चल विचार है कि आत्मा व परमात्मा, जीव तथा ब्रह्म के बीच अन्तर डालने वाला तत्त्व 'कर्म ही तो है। जीव-सृष्टि का समूचा चक्र 'कर्म' की धुरी पर ही घूम रहा है। कर्म-सम्पृक्त जीव ही आत्मा है, और कर्म-विमुक्त जीव ही ब्रह्म अथवा परमात्मा है। कर्मवाद का दिव्य सन्देश है कि तुम अपने जीवन के निर्माता और अपने भाग्य-विधाता स्वयं हो। संक्षेप में कर्म-सिद्धान्त आध्यात्मिक चिन्तन और विकास का प्रबल कारण होनें के साथ लोक जीवन में समभाव का आलम्बन करने की सीख देता है। जैसा पुरुषार्थ होगा, वैसा ही भाग्य बनेगा। प्रत्येक आत्मा कर्म से मुक्त होकर सत्-चित्त-आनन्द स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ है।

□□□

दूहा धरम रा

□ श्री सत्यनारायण गोयनका

सदा जुद्ध करती रवै, लेवै बैर्‌या जीत।
बणै वीर पुरुसारथी, या संता री रीत ।।१।।

यो हि संत रो जुद्ध है, यो हि पराक्रम घोर।
काम क्रोध अर मोह सूं, राखै मुखड़ो मोड़ ।।२।।

राग द्वेष अभिमान रा, बैरि बड़ा बलवान।
कुण जाणै कद सिर चढै, पीड़ित कर दे प्राण ।।३।।

संत सदा जाग्रत रवै, करै न रंच प्रमाद।
भव-भय-बंधन काट कर, चखै मुक्ति को स्वाद ।।४।।

अन्तरमन रण खेत मंह, बैरी भेळा होय।
एक एक नै कतल कर, संत विजेता होय ।।५।।

सतत जूझतो ही रवै, संत देह परयन्त।
हनन करै अरिगण सकल, हुइ जावै अरहन्त ।।६।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org